

अध्याय पाँच

कर्मयोग— कृष्णभावनाभावित कर्म

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; सन्न्यासम्—संन्यास; कर्मणाम्—सम्पूर्ण कर्मों के;
कृष्ण—हे कृष्ण; पुनः—फिर; योगम्—भक्ति; च—भी; शंससि—प्रशंसा करते हो;
यत्—जो; श्रेयः—अधिक लाभप्रद है; एतयोः—इन दोनों में से; एकम्—एक; तत्—
वह; मे—मेरे लिए; ब्रूहि—कहिये; सु-निश्चितम्—निश्चित रूप से।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! पहले आप मुझसे कर्म त्यागने के लिए कहते हैं और फिर भक्तिपूर्वक कर्म करने का आदेश देते हैं। क्या आप अब कृपा करके निश्चित रूप से मुझे बताएँगे कि इन दोनों में से कौन अधिक लाभप्रद है?

तात्पर्य

भगवद्गीता के इस पंचम अध्याय में भगवान् बताते हैं कि भक्तिपूर्वक किया गया कर्म शुष्क चिन्तन से श्रेष्ठ है। भक्ति-पथ अधिक सुगम है, क्योंकि दिव्यस्वरूपा भक्ति मनुष्य को कर्मबन्धन से मुक्त करती है। द्वितीय अध्याय में आत्मा तथा उसके शरीर बन्धन का सामान्य ज्ञान बतलाया गया है। उसी में बुद्धियोग अर्थात् भक्ति द्वारा इस भौतिक बन्धन से निकलने का भी वर्णन हुआ है। तृतीय अध्याय में यह बताया गया है कि ज्ञानी को कोई

कार्य नहीं करने पड़ते। चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को बताया है कि सारे यज्ञों का पर्यवसान ज्ञान में होता है, किन्तु चतुर्थ अध्याय के अन्त में भगवान् ने अर्जुन को सलाह दी कि वह पूर्णज्ञान से युक्त होकर, उठ करके युद्ध करे। अतः इस प्रकार एक ही साथ भक्तिमय कर्म तथा ज्ञानयुक्त-अकर्म की महत्ता पर बल देते हुए कृष्ण ने अर्जुन के संकल्प को भ्रमित कर दिया है। अर्जुन यह समझता है कि ज्ञानमय संन्यास का अर्थ है—इन्द्रियकार्यों के रूप में समस्त प्रकार के कार्यकलापों का परित्याग। किन्तु यदि भक्तियोग में कोई कर्म करता है तो फिर कर्म का किस तरह त्याग हुआ? दूसरे शब्दों में, वह यह सोचता है कि ज्ञानमय संन्यास को सभी प्रकार के कार्यों से मुक्त होना चाहिए क्योंकि उसे कर्म तथा ज्ञान असंगत से लगते हैं। ऐसा लगता है कि वह यह नहीं समझ पाया कि ज्ञान के साथ किया गया कर्म बन्धनकारी न होने के कारण अकर्म के ही तुल्य है। अतएव वह पूछता है कि वह सब प्रकार से कर्म त्याग दे या पूर्णज्ञान से युक्त होकर कर्म करे?

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।

तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; सन्न्यासः—कर्म का परित्याग; कर्म-योगः—निष्ठायुक्त कर्म; च—भी; निःश्रेयस-करौ—मुक्तिपथ को ले जाने वाले; उभौ—दोनों; तयोः—दोनों में से; तु—लेकिन; कर्म-सन्न्यासात्—सकामकर्मों के त्याग से; कर्म-योगः—निष्ठायुक्त कर्म; विशिष्यते—श्रेष्ठ है।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया—मुक्ति के लिए तो कर्म का परित्याग तथा भक्तिमय-कर्म (कर्मयोग) दोनों ही उत्तम हैं। किन्तु इन दोनों में से कर्म के परित्याग से भक्तियुक्त कर्म श्रेष्ठ है।

तात्पर्य

सकाम कर्म (इन्द्रियतृप्ति में लगना) ही भवबन्धन का कारण है। जब तक मनुष्य शारीरिक सुख का स्तर बढ़ाने के उद्देश्य से कर्म करता रहता है तब

तक वह विभिन्न प्रकार के शरीरों में देहान्तरण करते हुए भवबन्धन को बनाये रखता है। इसकी पुष्टि भागवत (५.५.४-६) में इस प्रकार हुई है—

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति ।

न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥

पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।

यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥

एवं मनः कर्मवशं प्रयुंक्ते अविद्ययात्मन्युपधीयमाने ।

प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥

“लोग इन्द्रियतृप्ति के पीछे मत्त हैं। वे यह नहीं जानते कि उनका क्लेशों से युक्त यह शरीर उनके विगत सकाम-कर्मों का फल है। यद्यपि यह शरीर नाशवान है, किन्तु यह नाना प्रकार के कष्ट देता रहता है। अतः इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करना श्रेयस्कर नहीं है। जब तक मनुष्य अपने असली स्वरूप के विषय में जिज्ञासा नहीं करता, उसका जीवन व्यर्थ रहता है। और जब तक वह अपने स्वरूप को नहीं जान लेता तब तक उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए सकाम कर्म करना पड़ता है, और जब तक वह इन्द्रियतृप्ति की इस चेतना में फँसा रहता है तब तक उसका देहान्तरण होता रहता है। भले ही उसका मन सकाम कर्मों में व्यस्त रहे और अज्ञान द्वारा प्रभावित हो, किन्तु उसे वासुदेव की भक्ति के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिए। केवल तभी वह भवबन्धन से छूटने का अवसर प्राप्त कर सकता है।”

अतः यह ज्ञान ही (कि वह आत्मा है शरीर नहीं) मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं। जीवात्मा के स्तर पर मनुष्य को कर्म करना होगा अन्यथा भवबन्धन से उबरने का कोई अन्य उपाय नहीं है। किन्तु कृष्णभावनाभावित होकर कर्म करना सकाम कर्म नहीं है। पूर्णज्ञान से युक्त होकर किये गये कर्म वास्तविक ज्ञान को बढ़ाने वाले हैं। बिना कृष्णभावनामृत के केवल कर्मों के परित्याग से बद्धजीव का हृदय शुद्ध नहीं होता। जब तक हृदय शुद्ध नहीं होता तब तक सकाम कर्म करना पड़ेगा। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म कर्ता को स्वतः सकाम कर्म के फल से मुक्त बनाता है, जिसके कारण उसे भौतिक स्तर तक उतरना नहीं पड़ता। अतः कृष्णभावनाभावित कर्म

संन्यास से सदा श्रेष्ठ होता है, क्योंकि संन्यास में नीचे गिरने की सम्भावना बनी रहती है। कृष्णभावनामृत से रहित संन्यास अपूर्ण है, जैसा कि श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृतसिन्धु* में (१.२.२५८) पुष्टि की है—

प्रापञ्चितया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥

“जब मुक्तिकामी व्यक्ति श्रीभगवान् से सम्बन्धित वस्तुओं को भौतिक समझ कर उनका परित्याग कर देते हैं, तो उनका संन्यास अपूर्ण कहलाता है।” संन्यास तभी पूर्ण माना जाता है जब यह ज्ञात हो कि संसार की प्रत्येक वस्तु भगवान् की है और कोई किसी भी वस्तु का स्वामित्व ग्रहण नहीं कर सकता। वस्तुतः मनुष्य को यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि उसका अपना कुछ भी नहीं है। तो फिर संन्यास का प्रश्न ही कहाँ उठता है? जो व्यक्ति यह समझता है कि सारी सम्पत्ति कृष्ण की है, वह नित्य संन्यासी है। प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है, अतः उसका उपयोग कृष्ण के लिए किया जाना चाहिए। कृष्णभावनाभावित होकर इस प्रकार का पूर्ण कार्य करना मायावादी संन्यासी के कृत्रिम वैराग्य से कहीं उत्तम है।

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ज्ञेयः—जानना चाहिए; सः—वह; नित्य—सदैव; सन्न्यासी—संन्यासी; यः—जो; न—कभी नहीं; द्वेष्टि—घृणा करता है; न—न तो; काङ्क्षति—इच्छा करता है; निर्द्वन्द्वः—समस्त द्वैतताओं से मुक्त; हि—निश्चय ही; महा-बाहो—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; सुखम्—सुखपूर्वक; बन्धात्—बन्धन से; प्रमुच्यते—पूर्णतया मुक्त हो जाता है।

जो पुरुष न तो कर्मफलों से घृणा करता है और न कर्मफल की इच्छा करता है, वह नित्य संन्यासी जाना जाता है। हे महाबाहु अर्जुन! ऐसा मनुष्य समस्त द्वन्द्वों से रहित होकर भवबन्धन को पार कर पूर्णतया मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य

पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष नित्य संन्यासी है क्योंकि वह अपने कर्मफल से न तो घृणा करता है, न ही उसकी आकांक्षा करता है। ऐसा संन्यासी, भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के परायण होकर पूर्णज्ञानी होता है क्योंकि वह कृष्ण के साथ अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानता है। वह भलीभाँति जानता रहता है कि कृष्ण पूर्ण (अंशी) हैं और वह स्वयं अंशमात्र है। ऐसा ज्ञान पूर्ण होता है क्योंकि यह गुणात्मक तथा सकारात्मक रूप से सही है। कृष्ण-तादात्म्य की भावना भ्रान्त है क्योंकि अंश अंशी के तुल्य नहीं हो सकता। यह ज्ञान कि एकता गुणों की है न कि गुणों की मात्रा की, सही दिव्यज्ञान है, जिससे मनुष्य अपने आप में पूर्ण बनता है, जिसे न तो किसी वस्तु की आकांक्षा रहती है न किसी का शोक। उसके मन में किसी प्रकार का छल-कपट नहीं रहता क्योंकि वह जो कुछ भी करता है कृष्ण के लिए करता है। इस प्रकार छल-कपट से रहित होकर वह इस भौतिक जगत् से भी मुक्त हो जाता है।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यग्भयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

साङ्ख्य—भौतिक जगत् का विश्लेषणात्मक अध्ययन; योगौ—भक्तिपूर्ण कर्म, कर्मयोग; पृथक्—भिन्न; बालाः—अल्पज्ञ; प्रवदन्ति—कहते हैं; न—कभी नहीं; पण्डिताः—विद्वान् जन; एकम्—एक में; अपि—भी; आस्थितः—स्थित; सम्यक्—पूर्णतया; उभयोः—दोनों का; विन्दते—भोग करता है; फलम्—फल।

अज्ञानी ही भक्ति (कर्मयोग) को भौतिक जगत् के विश्लेषणात्मक अध्ययन (सांख्य) से भिन्न कहते हैं। जो वस्तुतः ज्ञानी हैं वे कहते हैं कि जो इनमें से किसी एक मार्ग का भलीभाँति अनुसरण करता है, वह दोनों के फल प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य

भौतिक जगत् के विश्लेषणात्मक अध्ययन (सांख्य) का उद्देश्य आत्मा को प्राप्त करना है। भौतिक जगत् की आत्मा विष्णु या परमात्मा हैं। भगवान्

की भक्ति का अर्थ परमात्मा की सेवा है। एक विधि से वृक्ष की जड़ खोजी जाती है और दूसरी विधि से उसको सींचा जाता है। सांख्यदर्शन का वास्तविक छात्र जगत् के मूल अर्थात् विष्णु को ढूँढता है और फिर पूर्णज्ञान समेत अपने को भगवान् की सेवा में लगा देता है। अतः मूलतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों का उद्देश्य विष्णु की प्राप्ति है। जो लोग चरम उद्देश्य को नहीं जानते वे ही कहते हैं कि सांख्य और कर्मयोग एक नहीं हैं, किन्तु जो विद्वान् है वह जानता है कि इन दोनों भिन्न विधियों का उद्देश्य एक है।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; साङ्ख्यैः—सांख्यदर्शन के द्वारा; प्राप्यते—प्राप्त किया जाता है; स्थानम्—स्थान; तत्—वही; योगैः—भक्ति द्वारा; अपि—भी; गम्यते—प्राप्त कर सकता है; एकम्—एक; साङ्ख्यम्—विश्लेषणात्मक अध्ययन को; च—तथा; योगम्—भक्तिमय कर्म को; च—तथा; यः—जो; पश्यति—देखता है; सः—वह; पश्यति—वास्तव में देखता है।

जो यह जानता है कि विश्लेषणात्मक अध्ययन (सांख्य) द्वारा प्राप्य स्थान भक्ति द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है, और इस तरह जो सांख्ययोग तथा भक्तियोग को एकसमान देखता है, वही वस्तुओं को यथारूप में देखता है।

तात्पर्य

दार्शनिक शोध (सांख्य) का वास्तविक उद्देश्य जीवन के चरमलक्ष्य की खोज है। चूँकि जीवन का चरमलक्ष्य आत्म-साक्षात्कार है, अतः इन दोनों विधियों से प्राप्त होने वाले परिणामों में कोई अन्तर नहीं है। सांख्य दार्शनिक शोध के द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि जीव भौतिक जगत् का नहीं अपितु पूर्ण परमात्मा का अंश है। फलतः जीवात्मा का भौतिक जगत् से कोई सरोकार नहीं होता, उसके सारे कार्य परमेश्वर से सम्बद्ध होने चाहिए। जब वह कृष्णभावनामृतवश कार्य करता है तभी वह अपनी स्वाभाविक स्थिति में होता है। सांख्य विधि में मनुष्य को पदार्थ से

विरक्त होना पड़ता है और भक्तियोग में उसे कृष्णभावनाभावित कर्म में आसक्त होना होता है। वस्तुतः दोनों ही विधियाँ एक हैं, यद्यपि ऊपर से एक विधि में विरक्ति दीखती है और दूसरे में आसक्ति है। जो पदार्थ से विरक्ति और कृष्ण में आसक्ति को एक ही तरह देखता है, वही वस्तुओं को यथारूप में देखता है।

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सन्न्यासः—संन्यास आश्रम; तु—लेकिन; महा-बाहो—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; दुःखम्—दुख; आप्तुम्—से प्रभावित; अयोगतः—भक्ति के बिना; योग-युक्तः—भक्ति में लगा हुआ; मुनिः—चिन्तक; ब्रह्म—परमेश्वर को; न चिरेण—शीघ्र ही; अधिगच्छति—प्राप्त करता है।

भक्ति में लगे बिना केवल समस्त कर्मों का परित्याग करने से कोई सुखी नहीं बन सकता। परन्तु भक्ति में लगा हुआ विचारवान व्यक्ति शीघ्र ही परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य

संन्यासी दो प्रकार के होते हैं। मायावादी संन्यासी सांख्यदर्शन के अध्ययन में लगे रहते हैं तथा वैष्णव संन्यासी वेदान्त सूत्रों के यथार्थ भाष्य भागवत-दर्शन के अध्ययन में लगे रहते हैं। मायावादी संन्यासी भी वेदान्त सूत्रों का अध्ययन करते हैं, किन्तु वे शंकराचार्य द्वारा प्रणीत शारीरिक भाष्य का उपयोग करते हैं। भागवत सम्प्रदाय के छात्र पांचरात्रिकी विधि से भगवान् की भक्ति करने में लगे रहते हैं। अतः वैष्णव संन्यासियों को भगवान् की दिव्यसेवा के लिए अनेक प्रकार के कार्य करने होते हैं। उन्हें भौतिक कार्यों से कोई सरोकार नहीं रहता, किन्तु तो भी वे भगवान् की भक्ति में नाना प्रकार के कार्य करते हैं। किन्तु मायावादी संन्यासी, जो सांख्य तथा वेदान्त के अध्ययन एवं चिन्तन में लगे रहते हैं, वे भगवान् की दिव्य भक्ति का आनन्द नहीं उठा पाते। चूँकि उनका अध्ययन अत्यन्त जटिल हो जाता है, अतः वे कभी-कभी ब्रह्मचिन्तन से ऊब कर समुचित बोध के बिना ही भागवत की शरण ग्रहण करते हैं। फलस्वरूप श्रीमद्भागवत का भी

अध्ययन उनके लिए कष्टकर होता है। मायावादी संन्यासियों का शुष्क चिन्तन तथा कृत्रिम साधनों से निर्विशेष विवेचना उनके लिए व्यर्थ होती हैं। भक्ति में लगे हुए वैष्णव संन्यासी अपने दिव्य कर्मों को करते हुए प्रसन्न रहते हैं और यह भी निश्चित रहता है कि वे भगवद्धाम को प्राप्त होंगे। मायावादी संन्यासी कभी-कभी आत्म-साक्षात्कार के पथ से नीचे गिर जाते हैं और फिर से समाजसेवा, परोपकार जैसे भौतिक कर्म में प्रवृत्त होते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि कृष्णभावनामृत के कार्यों में लगे रहने वाले लोग ब्रह्म-अब्रह्म विषयक साधारण चिन्तन में लगे संन्यासियों से श्रेष्ठ हैं, यद्यपि वे भी अनेक जन्मों के बाद कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

योग-युक्तः— भक्ति में लगे हुए; विशुद्ध-आत्मा—शुद्ध आत्मा; विजित-आत्मा— आत्म-संयमी; जित-इन्द्रियः—इन्द्रियों को जीतने वाला; सर्व-भूत—समस्त जीवों के प्रति; आत्म-भूत-आत्मा—दयालु; कुर्वन् अपि—कर्म में लगे रहकर भी; न—कभी नहीं; लिप्यते—बंधता है।

जो भक्तिभाव से कर्म करता है, जो विशुद्ध आत्मा है और अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में रखता है, वह सबों को प्रिय होता है और सभी लोग उसे प्रिय होते हैं। ऐसा व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कभी नहीं बंधता।

तात्पर्य

जो कृष्णभावनामृत के कारण मुक्तिपथ पर है वह प्रत्येक जीव को प्रिय होता है और प्रत्येक जीव उसके लिए प्यारा है। यह कृष्णभावनामृत के कारण होता है। ऐसा व्यक्ति किसी भी जीव को कृष्ण से पृथक् नहीं सोच पाता, जिस प्रकार वृक्ष की पत्तियाँ तथा टहनियाँ वृक्ष से भिन्न नहीं होतीं। वह भलीभाँति जानता है कि वृक्ष की जड़ में डाला गया जल समस्त पत्तियों तथा टहनियों में फैल जाता है अथवा आमाशय को भोजन देने से

शक्ति स्वतः पूरे शरीर में फैल जाती है। चूँकि कृष्णभावनामृत में कर्म करने वाला सबों का दास होता है, अतः वह हर एक को प्रिय होता है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति उसके कर्म से प्रसन्न रहता है, अतः उसकी चेतना शुद्ध रहती है। चूँकि उसकी चेतना शुद्ध रहती है, अतः उसका मन पूर्णतया नियंत्रण में रहता है। मन के नियंत्रित होने से उसकी इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं। चूँकि उसका मन सदैव कृष्ण में स्थिर रहता है, अतः उसके विचलित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। न ही उसे कृष्ण से सम्बद्ध कथाओं के अतिरिक्त अन्य कार्यों में अपनी इन्द्रियों को लगाने का अवसर मिलता है। वह कृष्णकथा के अतिरिक्त और कुछ सुनना नहीं चाहता, वह कृष्ण को अर्पित किए हुए भोजन के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं खाना चाहता और न ऐसे किसी स्थान में जाने की इच्छा रखता है जहाँ कृष्ण सम्बन्धी कार्य न होता हो। अतः उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। ऐसा व्यक्ति जिसकी इन्द्रियाँ संयमित हों, वह किसी के प्रति अपराध नहीं कर सकता। इस पर कोई यह प्रश्न कर सकता है, तो फिर अर्जुन अन्यो के प्रति युद्ध में आक्रामक क्यों था? क्या वह कृष्णभावनाभावित नहीं था? वस्तुतः अर्जुन ऊपर से ही आक्रामक था, क्योंकि जैसा कि द्वितीय अध्याय में बताया जा चुका है, आत्मा के अवध्य होने के कारण युद्धभूमि में एकत्र हुए सारे व्यक्ति अपने-अपने स्वरूप में जीवित बने रहेंगे। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में कोई मारा नहीं गया। वहाँ पर स्थित कृष्ण की आज्ञा से केवल उनके वस्त्र बदल दिये गये। अतः अर्जुन कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में युद्ध करता हुआ भी वस्तुतः युद्ध नहीं कर रहा था। वह तो पूर्ण कृष्णभावनामृत में कृष्ण के आदेश का पालन मात्र कर रहा था। ऐसा व्यक्ति कभी कर्मबन्धन से नहीं बँधता।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्चसन् ॥ ८ ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्मिषन्निमिषन्नपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निश्चय ही; किञ्चित्—कुछ भी; करोमि—करता हूँ; इति—इस प्रकार; युक्तः—दैवी चेतना में लगा हुआ; मन्येत—सोचता है; तत्त्व-वित्—सत्य को जानने वाला; पश्यन्—देखता हुआ; शृण्वन्—सुनता हुआ; स्पृशन्—स्पर्श करता हुआ; जिघ्रन्—सूँघता हुआ; अश्नन्—खाता हुआ; गच्छन्—जाता हुआ; स्वपन्—स्वप्न देखता हुआ; श्वसन्—साँस लेता हुआ; प्रलपन्—बात करता हुआ; विसृजन्—त्यागता हुआ; गृह्णन्—स्वीकार करता हुआ; उन्मिषन्—खोलता हुआ; निमिषन्—बन्द करता हुआ; अपि—तो भी; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; इन्द्रिय-अर्थेषु—इन्द्रिय-तृप्ति में; वर्तन्ते—लगी रहने देकर; इति—इस प्रकार; धारयन्—विचार करते हुए।

दिव्य भावनामृत युक्त पुरुष देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, खाते, चलते-फिरते, सोते तथा श्वास लेते हुए भी अपने अन्तर में सदैव यही जानता रहता है कि वास्तव में वह कुछ भी नहीं करता। बोलते, त्यागते, ग्रहण करते या आँखें खोलते-बन्द करते हुए भी वह यह जानता रहता है कि भौतिक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त हैं और वह इन सबसे पृथक् है।

तात्पर्य

चूँकि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का जीवन शुद्ध होता है फलतः उसे निकट तथा दूरस्थ पाँच कारणों—कर्ता, कर्म, अधिष्ठान, प्रयास तथा भाग्य—पर निर्भर किसी कार्य से कुछ लेना-देना नहीं रहता। इसका कारण यही है कि वह भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहता है। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने शरीर तथा इन्द्रियों से कर्म कर रहा है, किन्तु वह अपनी वास्तविक स्थिति के प्रति सचेत रहता है जो कि आध्यात्मिक व्यस्तता है। भौतिक चेतना में इन्द्रियाँ इन्द्रियतृप्ति में लगी रहती हैं, किन्तु कृष्णभावनामृत में वे कृष्ण की इन्द्रियों की तृप्ति में लगी रहती हैं। अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सदा मुक्त रहता है, भले ही वह ऊपर से भौतिक कार्यों में लगा हुआ दिखाई पड़े। देखने तथा सुनने के कार्य ज्ञानेन्द्रियों के कर्म हैं जबकि चलना, बोलना, मल त्यागना आदि कर्मेन्द्रियों के कार्य हैं। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी इन्द्रियों के कार्यों से प्रभावित नहीं होता। वह भगवत्सेवा के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य नहीं कर सकता क्योंकि उसे ज्ञात है कि वह भगवान् का शाश्वत दास है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मणि—भगवान् में; आधाय—समर्पित करके; कर्माणि—सारे कार्यों को; सङ्गम्—आसक्ति; त्यक्त्वा—त्यागकर; करोति—करता है; यः—जो; लिप्यते—प्रभावित होता है; न—कभी नहीं; सः—वह; पापेन—पाप से; पद्म-पत्रम्—कमल पत्र; इव—के सदृश; अम्भसा—जल के द्वारा ।

जो व्यक्ति कर्मफलों को परमेश्वर को समर्पित करके आसक्तिरहित होकर अपना कर्म करता है, वह पापकर्मों से उसी प्रकार अप्रभावित रहता है, जिस प्रकार कमलपत्र जल से अस्पृश्य रहता है ।

तात्पर्य

यहाँ पर ब्रह्मणि का अर्थ “कृष्णभावनामृत में” है। यह भौतिक जगत् प्रकृति के तीन गुणों की समग्र अभिव्यक्ति है जिसे प्रधान की संज्ञा दी जाती है। वेदमन्त्र सर्वं ह्येतद्ब्रह्म (माण्डूक्य उपनिषद् २), तस्माद् एतद्ब्रह्म नामरूपमत्रं च जायते (मुण्डक उपनिषद् १.२.१०) तथा भगवद्गीता में (१४.३) मम योनिर्महद्ब्रह्म से प्रकट है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और यद्यपि कार्य भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु तो भी वे कारण से अभिन्न हैं। ईशोपनिषद् में कहा गया है कि सारी वस्तुएँ परब्रह्म या कृष्ण से सम्बन्धित हैं, अतएव वे केवल उन्हीं की हैं। जो यह भलीभाँति जानता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है और वे ही प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं अतः प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में ही नियोजित है, उसे स्वभावतः शुभ-अशुभ कर्मफलों से कोई प्रयोजन नहीं रहता। यहाँ तक कि विशेष प्रकार का कर्म सम्पन्न करने के लिए भगवान् द्वारा प्रदत्त मनुष्य का शरीर भी कृष्णभावनामृत में संलग्न किया जा सकता है। तब यह पापकर्मों के कल्मष से वैसे ही परे रहता है जैसे कि कमलपत्र जल में रहकर भी भीगता नहीं। भगवान् गीता (३.३०) में भी कहते हैं—मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य—सम्पूर्ण कर्मों को मुझे (कृष्ण को) समर्पित करो। तात्पर्य यह कि कृष्णभावनामृत-विहीन पुरुष शरीर एवं इन्द्रियों को अपना

स्वरूप समझ कर कर्म करता है, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह समझ कर कर्म करता है कि यह देह कृष्ण की सम्पत्ति है, अतः इसे कृष्ण की सेवा में प्रवृत्त होना चाहिए।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कायेन—शरीर से; मनसा—मन से; बुद्ध्या—बुद्धि से; केवलैः—शुद्ध; इन्द्रियैः—इन्द्रियों से; अपि—भी; योगिनः—कृष्णभावनाभावित व्यक्ति; कर्म—कर्म; कुर्वन्ति—करते हैं; सङ्गम्—आसक्ति; त्यक्त्वा—त्याग कर; आत्म—आत्मा की; शुद्धये—शुद्धि के लिए।

योगीजन आसक्तिरहित होकर शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा भी केवल शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

तात्पर्य

जब कोई कृष्णभावनामृत में कृष्ण की इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर, मन, बुद्धि अथवा इन्द्रियों द्वारा कर्म करता है तो वह भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के कार्यों से कोई भौतिक फल प्रकट नहीं होता। अतः सामान्य रूप से सदाचार कहे जाने वाले शुद्ध कर्म कृष्णभावनामृत में रहते हुए सरलता से सम्पन्न किये जा सकते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.२.१८७) इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा ।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

“अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से कृष्णभावनामृत में कर्म करता हुआ (कृष्णसेवा में) व्यक्ति इस संसार में भी मुक्त रहता है, भले ही वह तथाकथित अनेक भौतिक कार्यकलापों में व्यस्त क्यों न रहे।” उसमें अहंकार नहीं रहता क्योंकि वह इसमें विश्वास नहीं रखता कि वह भौतिक शरीर है अथवा यह शरीर उसका है। वह जानता है कि वह यह शरीर नहीं है और न यह शरीर ही उसका है। वह स्वयं कृष्ण का है और उसका यह शरीर भी कृष्ण की सम्पत्ति है। जब वह शरीर, मन, बुद्धि, वाणी, जीवन,

सम्पत्ति आदि से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु को, जो भी उसके अधिकार में है, कृष्ण की सेवा में लगाता है तो वह तुरन्त कृष्ण से जुड़ जाता है। वह कृष्ण से एकरूप हो जाता है और उस अहंकार से रहित होता है जिसके कारण मनुष्य सोचता है कि मैं शरीर हूँ। यही कृष्णभावनामृत की पूर्णावस्था है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

युक्तः—भक्ति में लगा हुआ; कर्म-फलम्—समस्त कर्मों के फल; त्यक्त्वा—त्यागकर; शान्तिम्—पूर्ण शान्ति को; आप्नोति—प्राप्त करता है; नैष्ठिकीम्—अचल; अयुक्तः—कृष्णभावना से रहित; काम-कारेण—कर्मफल को भोगने के कारण; फले—फल में; सक्तः—आसक्त; निबध्यते—बंधता है।

निश्चल भक्त शुद्ध शान्ति प्राप्त करता है क्योंकि वह समस्त कर्मफल मुझे अर्पित कर देता है, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् से युक्त नहीं है और जो अपने श्रम का फलकामी है, वह बंध जाता है।

तात्पर्य

एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति तथा एक देहात्मबुद्धि वाले व्यक्ति में यह अन्तर है कि पहला तो कृष्ण के प्रति आसक्त रहता है जबकि दूसरा अपने कर्मों के फल के प्रति आसक्त रहता है। जो व्यक्ति कृष्ण के प्रति आसक्त रहकर उन्हीं के लिए कर्म करता है वह निश्चय ही मुक्त पुरुष है और उसे अपने कर्मफल की कोई चिन्ता नहीं होती। *भागवत* में किसी कर्म के फल की चिन्ता का कारण परम सत्य के ज्ञान के बिना द्वैतभाव में रहकर कर्म करना बताया गया है। कृष्ण श्रीभगवान् हैं। कृष्णभावनामृत में कोई द्वैत नहीं रहता। जो कुछ विद्यमान है वह कृष्ण की शक्ति का प्रतिफल है और कृष्ण सर्वमंगलमय हैं। अतः कृष्णभावनामृत में सम्पन्न सारे कार्य परम पद पर हैं। वे दिव्य होते हैं और उनका कोई भौतिक प्रभाव नहीं पड़ता। इस कारण कृष्णभावनामृत में जीव शान्ति से पूरित रहता है। किन्तु जो इन्द्रियतृप्ति के लिए लाभ के लोभ में फँसा रहता है, उसे शान्ति नहीं मिल

सकती। यही कृष्णभावनामृत का रहस्य है—यह अनुभूति कि कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, शान्ति तथा अभय का पद है।

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; कर्माणि—कर्मों को; मनसा—मन से; सन्न्यस्य—त्यागकर; आस्ते—रहता है; सुखम्—सुख में; वशी—संयमी; नव-द्वारे—नौ द्वारों वाले; पुरे—नगर में; देही—देहवान् आत्मा; न—नहीं; एव—निश्चय ही; कुर्वन्—करता हुआ; न—नहीं; कारयन्—करता हुआ।

जब देहधारी जीवात्मा अपनी प्रकृति को वश में कर लेता है और मन से समस्त कर्मों का परित्याग कर देता है तब वह नौ द्वारों वाले नगर (भौतिक शरीर) में बिना कुछ किये कराये सुखपूर्वक रहता है।

तात्पर्य

देहधारी जीवात्मा नौ द्वारों वाले नगर में वास करता है। शरीर अथवा नगर रूपी शरीर के कार्य प्राकृतिक गुणों द्वारा स्वतः सम्पन्न होते हैं। शरीर की परिस्थितियों के अनुसार रहते हुए भी जीव इच्छानुसार इन परिस्थितियों के परे भी हो सकता है। अपनी परा प्रकृति को विस्मृत करने के ही कारण वह अपने को शरीर समझ बैठता है और इसीलिए कष्ट पाता है। कृष्णभावनामृत के द्वारा वह अपनी वास्तविक स्थिति को पुनः प्राप्त कर सकता है और इस देह-बन्धन से मुक्त हो सकता है। अतः ज्योंही कोई कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है तुरन्त ही वह शारीरिक कार्यों से सर्वथा विलग हो जाता है। ऐसे संयमित जीवन में, जिसमें उसकी कार्यप्रणाली में परिवर्तन आ जाता है, वह नौ द्वारों वाले नगर में सुखपूर्वक निवास करता है। ये नौ द्वार इस प्रकार हैं—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।

वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥

“जीव के शरीर के भीतर वास करने वाले भगवान् ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों के नियन्ता हैं। यह शरीर नौ द्वारों (दो आँखें, दो नथुने, दो कान, एक मुँह, गुदा तथा उपस्थ) से युक्त है। बद्धावस्था में जीव अपने आपको शरीर मानता है, किन्तु जब वह अपनी पहचान अपने अन्तर के भगवान् से करता है तो वह शरीर में रहते हुए भी भगवान् की भाँति मुक्त हो जाता है।” (श्वेताश्वतर उपनिषद् ३.१८) अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति शरीर के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों कर्मों से मुक्त रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कर्तृत्वम्—कर्तापन या स्वामित्व को; न—न तो; कर्माणि—कर्मों को;
लोकस्य—लोगों के; सृजति—उत्पन्न करता है; प्रभुः—शरीर रूपी नगर का स्वामी;
न—न तो; कर्म-फल—कर्मों के फल से; संयोगम्—सम्बन्ध को; स्वभावः—प्रकृति के गुण; तु—लेकिन; प्रवर्तते—कार्य करते हैं।

शरीर रूपी नगर का स्वामी देहधारी जीवात्मा न तो कर्म का सृजन करता है, न लोगों को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है, न ही कर्मफल की रचना करता है। यह सब तो प्रकृति के गुणों द्वारा ही किया जाता है।

तात्पर्य

जैसा कि सातवें अध्याय में बताया जाएगा जीव तो परमेश्वर की शक्तियों में से एक है, किन्तु वह भगवान् की अपरा प्रकृति है जो पदार्थ से भिन्न है। संयोगवश परा प्रकृति या जीव अनादिकाल से प्रकृति (अपरा) के सम्पर्क में रहा है। जिस नाशवान शरीर या भौतिक आवास को वह प्राप्त करता है वह अनेक कर्मों और उनके फलों का कारण है। ऐसे बद्ध वातावरण में रहते हुए मनुष्य अपने आपको (अज्ञानवश) शरीर मानकर शरीर के कर्मफलों का भोग करता है। अनन्त काल से उपार्जित यह अज्ञान ही शारीरिक सुख-दुख का कारण है। ज्योंही जीव शरीर के कार्यों से पृथक् हो जाता है त्योंही वह कर्मबन्धन से भी मुक्त हो जाता है। जब तक वह

शरीर रूपी नगर में निवास करता है तब तक वह इसका स्वामी प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह न तो इसका स्वामी होता है और न इसके कर्मों तथा फलों का नियन्ता ही। वह तो इस भवसागर के बीच जीवन-संघर्ष में रत प्राणी है। सागर की लहरें उसे उछालती रहती हैं, किन्तु उन पर उसका वश नहीं चलता। उसके उद्धार का एकमात्र साधन है कि दिव्य कृष्णभावनामृत द्वारा समुद्र के बाहर आए। इसी के द्वारा समस्त अशान्ति से उसकी रक्षा हो सकती है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; आदत्ते—स्वीकार करता है; कस्यचित्—किसी का; पापम्—पाप;
न—न तो; च—भी; एव—निश्चय ही; सु-कृतम्—पुण्य को; विभुः—परमेश्वर;
अज्ञानेन—अज्ञान से; आवृतम्—आच्छादित; ज्ञानम्—ज्ञान; तेन—उससे; मुह्यन्ति—
मोह-ग्रस्त होते हैं; जन्तवः—जीवगण।

परमेश्वर न तो किसी के पापों को ग्रहण करता है, न पुण्यों को। किन्तु सारे देहधारी जीव उस अज्ञान के कारण मोहग्रस्त रहते हैं, जो उनके वास्तविक ज्ञान को आच्छादित किये रहता है।

तात्पर्य

विभु का अर्थ है, परमेश्वर जो असीम ज्ञान, धन, बल, यश, सौन्दर्य तथा त्याग से युक्त है। वह सदैव आत्मतृप्त और पाप-पुण्य से अविचलित रहता है। वह किसी भी जीव के लिए विशिष्ट परिस्थिति नहीं उत्पन्न करता, अपितु जीव अज्ञान से मोहित होकर जीवन की ऐसी परिस्थिति की कामना करता है, जिसके कारण कर्म तथा फल की श्रृंखला आरम्भ होती है। जीव परा प्रकृति के कारण ज्ञान से पूर्ण है। तो भी वह अपनी सीमित शक्ति के कारण अज्ञान के वशीभूत हो जाता है। भगवान् सर्वशक्तिमान् है, किन्तु जीव नहीं है। भगवान् विभु अर्थात् सर्वज्ञ है, किन्तु जीव अणु है। जीवात्मा में इच्छा करने की शक्ति है, किन्तु ऐसी इच्छा की पूर्ति सर्वशक्तिमान्

भगवान् द्वारा ही की जाती है। अतः जब जीव अपनी इच्छाओं से मोहग्रस्त हो जाता है तो भगवान् उसे अपनी इच्छापूर्ति करने देते हैं, किन्तु किसी परिस्थिति विशेष में इच्छित कर्मों तथा फलों के लिए उत्तरदायी नहीं होते। अतएव मोहग्रस्त होने से देहधारी जीव अपने को परिस्थितिजन्य शरीर मान लेता है और जीवन के क्षणिक दुख तथा सुख को भोगता है। भगवान् परमात्मा रूप में जीव का चिरसंगी रहते हैं, फलतः वे प्रत्येक जीव की इच्छाओं को उसी तरह समझते हैं जिस तरह फूल के निकट रहने वाला फूल की सुगन्ध को। इच्छा जीव को बद्ध करने के लिए सूक्ष्म बन्धन है। भगवान् मनुष्य की योग्यता के अनुसार उसकी इच्छा को पूरा करते हैं— *आपन सोची होत नहिं प्रभु सोची तत्काल*। अतः व्यक्ति अपनी इच्छाओं को पूरा करने में सर्वशक्तिमान् नहीं होता। किन्तु भगवान् इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं। वे निष्पक्ष होने के कारण स्वतन्त्र अणुजीवों की इच्छाओं में व्यवधान नहीं डालते। किन्तु जब कोई कृष्ण की इच्छा करता है तो भगवान् उसकी विशेष चिन्ता करते हैं और उसे इस प्रकार प्रोत्साहित करते हैं कि भगवान् को प्राप्त करने की उसकी इच्छा पूरी हो और वह सदैव सुखी रहे। अतएव वैदिक मन्त्र पुकार कर कहते हैं— *एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषते*—“भगवान् जीव को शुभ कर्मों में इसलिए प्रवृत्त करते हैं जिससे वह ऊपर उठे। भगवान् उसे अशुभ कर्मों में इसलिए प्रवृत्त करते हैं जिससे वह नरक जाए।” (*कौषीतकी उपनिषद् ३.८*)।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वाश्वभ्रमेव च ॥

“जीव अपने सुख-दुख में पूर्णतया आश्रित है। परमेश्वर की इच्छा से वह स्वर्ग या नरक जाता है, जिस तरह वायु के द्वारा प्रेरित बादल।”

अतः देहधारी जीव कृष्णभावनामृत की उपेक्षा करने की अपनी अनादि प्रवृत्ति के कारण अपने लिए मोह उत्पन्न करता है। फलस्वरूप स्वभावतः सच्चिदानन्द स्वरूप होते हुए भी वह अपने अस्तित्व की लघुता के कारण भगवान् के प्रति सेवा करने की अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूल जाता है और इस तरह वह अविद्या द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। अज्ञानवश जीव

यह कहता है कि उसके भवबन्धन के लिए भगवान् उत्तरदायी हैं। इसकी पुष्टि वेदान्त-सूत्र (२.१.३४) भी करते हैं—*वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति*—“भगवान् न तो किसी के प्रति घृणा करते हैं, न किसी को चाहते हैं, यद्यपि ऊपर से ऐसा प्रतीत होता है।”

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानेन—ज्ञान से; तु—लेकिन; तत्—वह; अज्ञानम्—अविद्या; येषाम्—जिनका; नाशितम्—नष्ट हो जाती है; आत्मनः—जीव का; तेषाम्—उनके; आदित्य-वत्—उदीयमान सूर्य के समान; ज्ञानम्—ज्ञान को; प्रकाशयति—प्रकट करता है; तत् परम्—कृष्णभावनामृत को।

किन्तु जब कोई उस ज्ञान से प्रबुद्ध होता है, जिससे अविद्या का विनाश होता है, तो उसके ज्ञान से सब कुछ उसी तरह प्रकट हो जाता है, जैसे दिन में सूर्य से सारी वस्तुएँ प्रकाशित हो जाती हैं।

तात्पर्य

जो लोग कृष्ण को भूल गये हैं वे निश्चित रूप से मोहग्रस्त होते हैं, किन्तु जो कृष्णभावनाभावित हैं वे नहीं होते। *भगवद्गीता* में कहा गया है—*सर्वं ज्ञानप्लवेन, ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि तथा न हि ज्ञानेन सदृशम्*। ज्ञान सदैव सम्माननीय है। और वह ज्ञान क्या है? श्रीकृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण करने पर ही पूर्णज्ञान प्राप्त होता है, जैसा कि *गीता* में (७.१९) ही कहा गया है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*। अनेकानेक जन्म बीत जाने पर ही पूर्णज्ञान प्राप्त करके मनुष्य कृष्ण की शरण में जाता है अथवा जब उसे कृष्णभावनामृत प्राप्त होता है तो उसे सब कुछ प्रकट होने लगता है, जिस प्रकार सूर्योदय होने पर सारी वस्तुएँ दिखने लगती हैं। जीव नाना प्रकार से मोहग्रस्त होता है। उदाहरणार्थ, जब वह अपने को ईश्वर मानने लगता है, तो वह अविद्या के पाश में जा गिरता है। यदि जीव ईश्वर है तो वह अविद्या से कैसे मोहग्रस्त हो सकता है? क्या ईश्वर अविद्या से मोहग्रस्त होता है?

यदि ऐसा हो सकता है, तो फिर अविद्या या शैतान ईश्वर से बड़ा है। वास्तविक ज्ञान उसी से प्राप्त हो सकता है जो पूर्णतः कृष्णभावनाभावित है। अतः ऐसे ही प्रामाणिक गुरु की खोज करनी होती है और उसी से सीखना होता है कि कृष्णभावनामृत क्या है, क्योंकि कृष्णभावनामृत से सारी अविद्या उसी प्रकार दूर हो जाती है, जिस प्रकार सूर्य से अंधकार दूर होता है। भले ही किसी व्यक्ति को इसका पूरा ज्ञान हो कि वह शरीर नहीं अपितु इससे परे है, तो भी हो सकता है कि वह आत्मा तथा परमात्मा में अन्तर न कर पाए। किन्तु यदि वह पूर्ण प्रामाणिक कृष्णभावनाभावित गुरु की शरण ग्रहण करता है तो वह सब कुछ जान सकता है। ईश्वर के प्रतिनिधि से भेंट होने पर ही ईश्वर तथा ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को सही-सही जाना जा सकता है। ईश्वर का प्रतिनिधि कभी भी अपने आपको ईश्वर नहीं कहता, यद्यपि उसका सम्मान ईश्वर की ही भाँति किया जाता है, क्योंकि उसे ईश्वर का ज्ञान होता है। मनुष्य को ईश्वर और जीव के अन्तर को समझना होता है। अतएव भगवान् कृष्ण ने द्वितीय अध्याय में (२.१२) यह कहा है कि प्रत्येक जीव व्यष्टि है और भगवान् भी व्यष्टि हैं। ये सब भूतकाल में व्यष्टि थे, सम्प्रति भी व्यष्टि हैं और भविष्य में मुक्त होने पर भी व्यष्टि बने रहेंगे। रात्रि के समय अंधकार में हमें प्रत्येक वस्तु एकसी दिखती है, किन्तु दिन में सूर्य के उदय होने पर सारी वस्तुएँ अपने-अपने वास्तविक स्वरूप में दिखती हैं। आध्यात्मिक जीवन में व्यष्टि की पहचान ही वास्तविक ज्ञान है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत्-बुद्धयः—नित्य भगवत्परायण बुद्धि वाले; तत्-आत्मानः—जिनके मन सदैव भगवान् में लगे रहते हैं; तत्-निष्ठाः—जिनकी श्रद्धा एकमात्र परमेश्वर में है; तत्-परायणाः—जिन्होंने उनकी शरण ले रखी है; गच्छन्ति—जाते हैं; अपुनः-आवृत्तिम्—मुक्ति को; ज्ञान—ज्ञान द्वारा; निर्धूत—शुद्ध किये गये; कल्मषाः—पाप, अविद्या।

जब मनुष्य की बुद्धि, मन, श्रद्धा तथा शरण सब कुछ भगवान् में स्थिर हो जाते हैं, तभी वह पूर्णज्ञान द्वारा समस्त कल्मष से शुद्ध होता है और मुक्ति के पथ पर अग्रसर होता है।
तात्पर्य

परम दिव्य सत्य भगवान् कृष्ण ही हैं। सारी गीता इसी घोषणा पर केन्द्रित है कि कृष्ण श्रीभगवान् हैं। यही समस्त वेदों का भी अभिमत है। परतत्त्व का अर्थ परम सत्य है जो भगवान् को ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में जानने वालों द्वारा समझा जाता है। भगवान् ही इस परतत्त्व की पराकाष्ठा हैं। उनसे बढ़कर कुछ नहीं है। भगवान् कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।* कृष्ण निराकार ब्रह्म का भी अनुमोदन करते हैं—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्।* अतः सभी प्रकार से कृष्ण परम सत्य (परतत्त्व) हैं। जिनके मन, बुद्धि, श्रद्धा तथा शरण कृष्ण में हैं अर्थात् जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हैं, उनके सारे कल्मष धुल जाते हैं और उन्हें ब्रह्म सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु का पूर्णज्ञान रहता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह भलीभाँति समझ सकता है कि कृष्ण में द्वैत है (एकसाथ एकता तथा भिन्नता) और ऐसे दिव्यज्ञान से युक्त होकर वह मुक्ति-पथ पर सुस्थिर प्रगति कर सकता है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

विद्या—शिक्षण; विनय—तथा विनम्रता से; सम्पन्ने—युक्त; ब्राह्मणे—ब्राह्मण में; गवि—गाय में; हस्तिनि—हाथी में; शुनि—कुत्ते में; च—तथा; एव—निश्चय ही; श्वपाके—कुत्ताभक्षी (चाण्डाल) में; च—क्रमशः; पण्डिताः—ज्ञानी; सम-दर्शिनः—समान दृष्टि से देखने वाले।

विनम्र साधुपुरुष अपने वास्तविक ज्ञान के कारण एक विद्वान् तथा विनीत ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल को समान दृष्टि (समभाव) से देखते हैं।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति योनि या जाति में भेद नहीं मानता। सामाजिक दृष्टि से ब्राह्मण तथा चाण्डाल भिन्न-भिन्न हो सकते हैं अथवा योनि के अनुसार कुत्ता, गाय तथा हाथी भिन्न हो सकते हैं, किन्तु विद्वान् योगी की दृष्टि में ये शरीरगत भेद अर्थहीन होते हैं। इसका कारण परमेश्वर से उनका सम्बन्ध है और परमेश्वर परमात्मा रूप में हर एक के हृदय में स्थित हैं। परम सत्य का ऐसा ज्ञान वास्तविक (यथार्थ) ज्ञान है। जहाँ तक विभिन्न जातियों या विभिन्न योनियों में शरीर का सम्बन्ध है, भगवान् सबों पर समान रूप से दयालु हैं क्योंकि वे प्रत्येक जीव को अपना मित्र मानते हैं फिर भी जीवों की समस्त परिस्थितियों में वे अपना परमात्मा स्वरूप बनाये रखते हैं। परमात्मा रूप में भगवान् चाण्डाल तथा ब्राह्मण दोनों में उपस्थित रहते हैं, यद्यपि इन दोनों के शरीर एक से नहीं होते। शरीर तो प्रकृति के गुणों के द्वारा उत्पन्न हुए हैं, किन्तु शरीर के भीतर आत्मा तथा परमात्मा समान आध्यात्मिक गुण वाले हैं। परन्तु आत्मा तथा परमात्मा की यह समानता उन्हें मात्रात्मक दृष्टि से समान नहीं बनाती क्योंकि व्यष्टि आत्मा किसी विशेष शरीर में उपस्थित होता है, किन्तु परमात्मा प्रत्येक शरीर में है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को इसका पूर्णज्ञान होता है इसीलिए वह सचमुच ही विद्वान् तथा समदर्शी होता है। आत्मा तथा परमात्मा के लक्षण समान हैं क्योंकि दोनों चेतन, शाश्वत तथा आनन्दमय हैं। किन्तु अन्तर इतना ही है कि आत्मा शरीर की सीमा के भीतर सचेतन रहता है जबकि परमात्मा सभी शरीरों में सचेतन है। परमात्मा बिना किसी भेदभाव के सभी शरीरों में विद्यमान है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इह—इस जीवन में; एव—निश्चय ही; तैः—उनके द्वारा; जितः—जीता हुआ; सर्गः—जन्म तथा मृत्यु; येषाम्—जिनका; साम्ये—समता में; स्थितम्—स्थित; मनः—मन; निर्दोषम्—दोषरहित; हि—निश्चय ही; समम्—समान; ब्रह्म—ब्रह्म की तरह; तस्मात्—अतः; ब्रह्मणि—परमेश्वर में; ते—वे; स्थिताः—स्थित हैं।

जिनके मन एकत्व तथा समता में स्थित हैं उन्होंने जन्म तथा मृत्यु के बन्धनों को पहले ही जीत लिया है। वे ब्रह्म के समान निर्दोष हैं और सदा ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं।

तात्पर्य

जैसा कि ऊपर कहा गया है मानसिक समता आत्म-साक्षात्कार का लक्षण है। जिन्होंने ऐसी अवस्था प्राप्त कर ली है, उन्हें भौतिक बंधनों पर, विशेषतया जन्म तथा मृत्यु पर, विजय प्राप्त किए हुए मानना चाहिए। जब तक मनुष्य शरीर को आत्मस्वरूप मानता है, वह बद्धजीव माना जाता है, किन्तु ज्योंही वह आत्म-साक्षात्कार द्वारा समचितता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वह बद्धजीवन से मुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में, उसे इस भौतिक जगत् में जन्म नहीं लेना पड़ता, अपितु अपनी मृत्यु के बाद वह आध्यात्मिक लोक को जाता है। भगवान् निर्दोष हैं क्योंकि वे आसक्ति अथवा घृणा से रहित हैं। इसी प्रकार जब जीव आसक्ति अथवा घृणा से रहित होता है तो वह भी निर्दोष बन जाता है और वैकुण्ठ जाने का अधिकारी हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों को पहले से ही मुक्त मानना चाहिए। उनके लक्षण आगे बतलाये गये हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।

स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; प्रहृष्येत्—हर्षित होता है; प्रियम्—प्रिय को; प्राप्य—प्राप्त करके;
न—नहीं; उद्विजेत्—विचलित होता है; प्राप्य—प्राप्त करके; च—भी; अप्रियम्—
अप्रिय को; स्थिर-बुद्धिः—आत्मबुद्धि, कृष्णचेतना; असम्मूढः—मोहरहित,
संशयरहित; ब्रह्म-वित्—परब्रह्म को जानने वाला; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; स्थितः—स्थित।
जो न तो प्रिय वस्तु को पाकर हर्षित होता है और न अप्रिय को पाकर विचलित होता है, जो स्थिरबुद्धि है, जो मोहरहित है और भगवद्विद्या को जानने वाला है वह पहले से ही ब्रह्म में स्थित रहता है।

तात्पर्य

यहाँ पर स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के लक्षण दिये गये हैं। पहला लक्षण यह है कि उसमें शरीर और आत्मतत्त्व के तादात्म्य का भ्रम नहीं रहता। वह यह भलीभाँति जानता है कि मैं यह शरीर नहीं हूँ, अपितु भगवान् का एक अंश हूँ। अतः कुछ प्राप्त होने पर न तो उसे प्रसन्नता होती है और न शरीर की कुछ हानि होने पर शोक होता है। मन की यह स्थिरता स्थिरबुद्धि या आत्मबुद्धि कहलाती है। अतः वह न तो स्थूल शरीर को आत्मा मानने की भूल करके मोहग्रस्त होता है और न शरीर को स्थायी मानकर आत्मा के अस्तित्व को टुकराता है। इस ज्ञान के कारण वह परम सत्य अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के ज्ञान को भलीभाँति जान लेता है। इस प्रकार वह अपने स्वरूप को जानता है और परब्रह्म से हर बात में तदाकार होने का कभी यत्न नहीं करता। इसे ब्रह्म-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार कहते हैं। ऐसी स्थिरबुद्धि कृष्णभावनामृत कहलाती है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

बाह्य-स्पर्शेषु—बाह्य इन्द्रिय सुख में; असक्त-आत्मा—अनासक्त पुरुष; विन्दति—भोग करता है; आत्मनि—आत्मा में; यत्—जो; सुखम्—सुख; सः—वह; ब्रह्म-योग—ब्रह्म में एकाग्रता द्वारा; युक्त-आत्मा—आत्म युक्त या समाहित; सुखम्—सुख; अक्षयम्—असीम; अश्नुते—भोगता है।

ऐसा मुक्त पुरुष भौतिक इन्द्रियसुख की ओर आकृष्ट नहीं होता, अपितु सदैव समाधि में रहकर अपने अन्तर में आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार स्वरूपसिद्ध व्यक्ति परब्रह्म में एकाग्रचित्त होने के कारण असीम सुख भोगता है।

तात्पर्य

कृष्णभावनामृत के महान भक्त श्री यामुनाचार्य ने कहा है—

यदवधि मम चेतः कृष्णपादारविन्दे

नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत् ।

तदवधि बत नारीसंगमे स्मर्यमाने

भवति मुखविकारः सुष्ठु निष्ठीवनं च ॥

“जब से मैं कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगकर उनमें नित्य नवीन आनन्द का अनुभव करने लगा हूँ तब से जब भी काम-सुख के बारे में सोचता हूँ तो इस विचार पर ही थूकता हूँ और मेरे होंठ अरुचि से सिमट जाते हैं।” ब्रह्मयोगी अथवा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति में इतना अधिक लीन रहता है कि इन्द्रियसुख में उसकी तनिक भी रुचि नहीं रह जाती। भौतिकता की दृष्टि में कामसुख ही सर्वोपरि आनन्द है। सारा संसार उसी के वशीभूत है और भौतिकतावादी लोग तो इस प्रोत्साहन के बिना कोई कार्य ही नहीं कर सकते। किन्तु कृष्णभावनामृत में लीन व्यक्ति कामसुख के बिना ही उत्साहपूर्वक अपना कार्य करता रहता है। यही आत्म-साक्षात्कार की कसौटी है। आत्म-साक्षात्कार तथा कामसुख कभी साथ-साथ नहीं चलते। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जीवन्मुक्त होने के कारण किसी प्रकार के इन्द्रियसुख द्वारा आकर्षित नहीं होता।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; हि—निश्चय ही; संस्पर्श-जा:—भौतिक इन्द्रियों के स्पर्श से उत्पन्न; भोगा:—भोग; दुःख—दुख; योनय:—स्रोत, कारण; एव—निश्चय ही; ते—वे; आदि—प्रारम्भ; अन्तवन्तः—अन्तवाले; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; न—कभी नहीं; तेषु—उनमें; रमते—आनन्द लेता है; बुधः—बुद्धिमान् मनुष्य।

बुद्धिमान् मनुष्य दुख के कारणों में भाग नहीं लेता जो कि भौतिक इन्द्रियों के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। हे कुन्तीपुत्र! ऐसे भोगों का आदि तथा अन्त होता है, अतः चतुर व्यक्ति उनमें आनन्द नहीं लेता।

तात्पर्य

भौतिक इन्द्रियसुख उन इन्द्रियों के स्पर्श से उद्भूत हैं जो नाशवान हैं क्योंकि शरीर स्वयं नाशवान है। मुक्तात्मा किसी नाशवान वस्तु में रुचि नहीं रखता। दिव्य आनन्द के सुखों से भलीभाँति अवगत वह भला मिथ्या सुख के लिए क्यों सहमत होगा? पद्मपुराण में कहा गया है—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।

इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥

“योगीजन परम सत्य में रमण करते हुए अनन्त दिव्यसुख प्राप्त करते हैं इसीलिए परम सत्य को भी राम कहा जाता है।”

भागवत में (५.५.१) भी कहा गया है—

नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये ।

तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्धयेद् यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥

“हे पुत्रो! इस मनुष्ययोनि में इन्द्रियसुख के लिए अधिक श्रम करना व्यर्थ है। ऐसा सुख तो सूकरों को भी प्राप्य है। इसकी अपेक्षा तुम्हें इस जीवन में तप करना चाहिए, जिससे तुम्हारा जीवन पवित्र हो जाय और तुम असीम दिव्यसुख प्राप्त कर सको।”

अतः जो यथार्थ योगी या दिव्य ज्ञानी हैं वे इन्द्रियसुखों की ओर आकृष्ट नहीं होते क्योंकि ये निरन्तर भवरोग के कारण हैं। जो भौतिकसुख के प्रति जितना ही आसक्त होता है, उसे उतने ही अधिक भौतिक दुख मिलते हैं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शक्नोति—समर्थ है; इह एव—इसी शरीर में; यः—जो; सोढुम्—सहन करने के लिए; प्राक्—पूर्व; शरीर—शरीर; विमोक्षणात्—त्याग करने से; काम—इच्छा; क्रोध—तथा क्रोध से; उद्भवम्—उत्पन्न; वेगम्—वेग को; सः—वह; युक्तः—समाधि में; सः—वही; सुखी—सुखी; नरः—मनुष्य।

यदि इस शरीर को त्यागने के पूर्व कोई मनुष्य इन्द्रियों के वेगों को सहन करने तथा इच्छा एवं क्रोध के वेग को रोकने में समर्थ होता है, तो वह इस संसार में सुखी रह सकता है।

तात्पर्य

यदि कोई आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर होना चाहता है तो उसे भौतिक इन्द्रियों के वेग को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। ये वेग हैं—वाणीवेग, क्रोधवेग, मनोवेग, उदरवेग, उपस्थवेग तथा जिह्वावेग। जो व्यक्ति इन विभिन्न इन्द्रियों के वेगों को तथा मन को वश में करने में समर्थ है वह

गोस्वामी या स्वामी कहलाता है। ऐसे गोस्वामी नितान्त संयमित जीवन बताते हैं और इन्द्रियों के वेगों का तिरस्कार करते हैं। भौतिक इच्छाएँ पूर्ण न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है और इस प्रकार मन, नेत्र तथा वक्षस्थल उत्तेजित होते हैं। अतः इस शरीर का परित्याग करने के पूर्व मनुष्य को इन्हें वश में करने का अभ्यास करना चाहिए। जो ऐसा कर सकता है वह स्वरूपसिद्ध माना जाता है और आत्म-साक्षात्कार की अवस्था में वह सुखी रहता है। योगी का कर्तव्य है कि वह इच्छा तथा क्रोध को वश में करने का भरसक प्रयत्न करे।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अन्तः-सुखः—अन्तर में सुखी; अन्तः-आरामः—अन्तर में रमण करने वाला अन्तर्मुखी; तथा—और; अन्तः-ज्योतिः—भीतर-भीतर लक्ष्य करते हुए; एव—निश्चय ही; यः—जो कोई; सः—वह; योगी—योगी; ब्रह्म-निर्वाणम्—परब्रह्म में मुक्ति; ब्रह्म-भूतः—स्वरूपसिद्ध; अधिगच्छति—प्राप्त करता है।

जो अन्तःकरण में सुख का अनुभव करता है, जो कर्मठ है और अन्तःकरण में ही रमण करता है तथा जिसका लक्ष्य अन्तर्मुखी होता है वह सचमुच पूर्ण योगी है। वह परब्रह्म में मुक्ति पाता है और अन्ततोगत्वा ब्रह्म को प्राप्त होता है।

तात्पर्य

जब तक मनुष्य अपने अन्तःकरण में सुख का अनुभव नहीं करता तब तक भला बाह्यसुख को प्राप्त कराने वाली बाह्य क्रियाओं से वह कैसे छूट सकता है? मुक्त पुरुष वास्तविक अनुभव द्वारा सुख भोगता है। अतः वह किसी भी स्थान में मौनभाव से बैठकर अन्तःकरण में जीवन के कार्यकलापों का आनन्द लेता है। ऐसा मुक्त पुरुष कभी बाह्य भौतिक सुख की कामना नहीं करता। यह अवस्था ब्रह्मभूत कहलाती है, जिसे प्राप्त करने पर भगवद्धाम जाना निश्चित है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

लभन्ते—प्राप्त करते हैं; ब्रह्म-निर्वाणम्—मुक्ति; ऋषयः—अन्तर से क्रियाशील रहने वाले; क्षीण-कल्मषाः—समस्त पापों से रहित; छिन्न—निवृत्त होकर; द्वैधाः—द्वैत से; यत-आत्मानः—आत्म-साक्षात्कार में निरत; सर्व-भूत—समस्त जीवों के; हिते—कल्याण में; रताः—लगे हुए।

जो लोग संशय से उत्पन्न होने वाले द्वैत से परे हैं, जिनके मन आत्म-साक्षात्कार में रत हैं, जो समस्त जीवों के कल्याणकार्य करने में सदैव व्यस्त रहते हैं और जो समस्त पापों से रहित हैं, वे ब्रह्मनिर्वाण (मुक्ति) को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य

केवल वही व्यक्ति सभी जीवों के कल्याणकार्य में रत कहा जाएगा जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है। जब व्यक्ति को यह वास्तविक ज्ञान हो जाता है कि कृष्ण ही सभी वस्तुओं के उद्गम हैं तब वह जो भी कर्म करता है सबों के हित को ध्यान में रखकर करता है। परमभोक्ता, परमनियन्ता तथा परमसखा कृष्ण को भूल जाना मानवता के क्लेशों का कारण है। अतः समग्र मानवता के लिए कार्य करना सबसे बड़ा कल्याणकार्य है। कोई भी मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ कार्य में तब तक नहीं लग पाता जब तक वह स्वयं मुक्त न हो। कृष्णभावनाभावित मनुष्य के हृदय में कृष्ण की सर्वोच्चता पर बिल्कुल संदेह नहीं रहता। वह इसीलिए सन्देह नहीं करता क्योंकि वह समस्त पापों से रहित होता है। ऐसा है—यह दैवी प्रेम। जो व्यक्ति मानव समाज का भौतिक कल्याण करने में ही व्यस्त रहता है वह वास्तव में किसी की भी सहायता नहीं कर सकता। शरीर तथा मन की क्षणिक खुशी सन्तोषजनक नहीं होती। जीवन-संघर्ष में कठिनाइयों का वास्तविक कारण मनुष्य द्वारा परमेश्वर से अपने सम्बन्ध की विस्मृति में ढूँढा जा सकता है। जब मनुष्य कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध के प्रति पूर्णतया सचेष्ट रहता है तो वह वास्तव में मुक्तात्मा होता है, भले ही वह भौतिक शरीर के जाल में फँसा हो।

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

काम—इच्छाओं; क्रोध—तथा क्रोध से; विमुक्तानाम्—मुक्त पुरुषों की; यतीनाम्—साधु पुरुषों की; यत-चेतसाम्—मन के ऊपर संयम रखने वालों की; अभितः—निकट भविष्य में आश्रित; ब्रह्म-निर्वाणम्—ब्रह्म में मुक्ति; वर्तते—होती है; विदित-आत्मनाम्—स्वरूपसिद्धों की ।

जो क्रोध तथा समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित हैं, जो स्वरूपसिद्ध, आत्मसंयमी हैं और संसिद्धि के लिए निरन्तर प्रयास करते हैं उनकी मुक्ति निकट भविष्य में सुनिश्चित है ।

तात्पर्य

मोक्ष के लिए सतत प्रयत्नशील रहने वाले साधुपुरुषों में से जो कृष्णभावनाभावित होता है वह सर्वश्रेष्ठ है । इस तथ्य की पुष्टि भागवत में (४.२२.३९) इस प्रकार हुई है—

यत्पादपंकजपलाशविलासभक्त्या

कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।

तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-

स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥

“भक्तिपूर्वक भगवान् वासुदेव की पूजा करने का प्रयास तो करो! बड़े से बड़े साधु पुरुष भी इन्द्रियों के वेग को उतनी कुशलता से रोक पाने में समर्थ नहीं हो पाते जितना कि वे जो सकामकर्मों की तीव्र इच्छा को समूल नष्ट करके और भगवान् के चरणकमलों की सेवा करके दिव्य आनन्द में लीन रहते हैं।”

बद्धजीव में कर्म के फलों को भोगने की इच्छा इतनी बलवती होती है कि ऋषियों-मुनियों तक के लिए कठोर परिश्रम के बावजूद ऐसी इच्छाओं को वश में करना कठिन होता है । जो भगवद्भक्त कृष्णचेतना में निरन्तर भक्ति करता है और आत्म-साक्षात्कार में सिद्ध होता है, वह शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करता है । आत्म-साक्षात्कार का पूर्णज्ञान होने से वह निरन्तर समाधिस्थ रहता है । ऐसा ही एक उदाहरण दिया जा रहा है—

दर्शनध्यानसंस्पर्शैः मत्स्यकूर्मविहंगमाः ।

स्वान्यपत्यानि पुष्पान्ति तथाहमपि पद्मज ॥

“मछली, कछुवा तथा पक्षी केवल दृष्टि, चिन्तन तथा स्पर्श से अपनी सन्तानों को पालते हैं। हे पद्मज! मैं भी उसी तरह करता हूँ।”

मछली अपने बच्चों को केवल देखकर बड़ा करती है। कछुवा केवल चिन्तन द्वारा अपने बच्चों को पालता है। कछुवा अपने अण्डे स्थल में देता है और स्वयं जल में रहने के कारण निरन्तर अण्डों का चिन्तन करता रहता है। इसी प्रकार भगवद्भक्त, भगवद्धाम से दूर स्थित रहकर भी भगवान् का चिन्तन करके कृष्णभावनामृत द्वारा उनके धाम पहुँच सकता है। उसे भौतिक क्लेशों का अनुभव नहीं होता। यह जीवन-अवस्था ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् भगवान् में निरन्तर लीन रहने के कारण भौतिक कष्टों का अभाव कहलाती है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

स्पर्शान्—इन्द्रियविषयों यथा ध्वनि को; कृत्वा—करके; बहिः—बाहरी; बाह्यान्—अनावश्यक; चक्षुः—आँखें; च—भी; एव—निश्चय ही; अन्तरे—मध्य में; भ्रुवोः—भौंहों के; प्राण-अपानौ—ऊर्ध्व तथा अधोगामी वायु; समौ—रुद्ध; कृत्वा—करके; नास-अभ्यन्तर—नथुनों के भीतर; चारिणौ—चलने वाले; यत—संयमित; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; बुद्धिः—बुद्धि; मुनिः—योगी; मोक्ष—मोक्ष के लिए; परायणः—तत्पर; विगत—परित्याग करके; इच्छा—इच्छाएँ; भय—डर; क्रोधः—क्रोध; यः—जो; सदा—सदैव; मुक्तः—मुक्त; एव—निश्चय ही; सः—वह।

समस्त इन्द्रियविषयों को बाहर करके, दृष्टि को भौंहों के मध्य में केन्द्रित करके, प्राण तथा अपान वायु को नथुनों के भीतर रोककर और इस तरह मन, इन्द्रियों तथा बुद्धि को वश में करके जो मोक्ष को लक्ष्य बनाता है वह योगी इच्छा, भय तथा

क्रोध से रहित हो जाता है। जो निरन्तर इस अवस्था में रहता है, वह अवश्य ही मुक्त है।

तात्पर्य

कृष्णभावनामृत में रत होने पर मनुष्य तुरन्त ही अपने आध्यात्मिक स्वरूप को जान लेता है जिसके पश्चात् भक्ति के द्वारा वह परमेश्वर को समझता है। जब मनुष्य भक्ति करता है तो वह दिव्य स्थिति को प्राप्त होता है और अपने कर्म क्षेत्र में भगवान् की उपस्थिति का अनुभव करने योग्य हो जाता है। यह विशेष स्थिति मुक्ति कहलाती है।

मुक्ति विषयक उपर्युक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके श्रीभगवान् अर्जुन को यह शिक्षा देते हैं कि मनुष्य किस प्रकार अष्टांगयोग का अभ्यास करके इस स्थिति को प्राप्त होता है। यह अष्टांगयोग आठ विधियों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि में विभाजित है। छठे अध्याय में योग के विषय में विस्तृत व्याख्या की गई है, पाँचवे अध्याय के अन्त में तो इसका प्रारम्भिक विवेचन ही दिया गया है। योग में प्रत्याहार विधि से शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध का निराकरण करना होता है और तब दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच लाकर अधखुली पलकों से उसे नासाग्र पर केन्द्रित करना पड़ता है। आँखों को पूरी तरह बन्द करने से कोई लाभ नहीं होता क्योंकि तब सो जाने की सम्भावना रहती है। न ही आँखों को पूरा खुला रखने से कोई लाभ है क्योंकि तब तो इन्द्रियविषयों द्वारा आकृष्ट होने का भय बना रहता है। नथुनों के भीतर श्वास की गति को रोकने के लिए प्राण तथा अपान वायुओं को सम किया जाता है। ऐसे योगाभ्यास से मनुष्य अपनी इन्द्रियों के ऊपर नियन्त्रण प्राप्त करता है, बाह्य इन्द्रियविषयों से दूर रहता है और अपनी मुक्ति की तैयारी करता है।

इस योग विधि से मनुष्य समस्त प्रकार के भय तथा क्रोध से रहित हो जाता है और परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत योग के सिद्धान्तों को सम्पन्न करने की सरलतम विधि है। अगले अध्याय में इसकी विस्तार से व्याख्या होगी। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सदैव भक्ति में लीन रहता है जिससे उसकी

इन्द्रियों के अन्यत्र प्रवृत्त होने का भय नहीं रह जाता। अष्टांगयोग की अपेक्षा इन्द्रियों को वश में करने की यह अधिक उत्तम विधि है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भोक्तारम्—भोगने वाला, भोक्ता; यज्ञ—यज्ञ; तपसाम्—तपस्या का; सर्व-लोक—सम्पूर्ण लोकों तथा उनके देवताओं का; महा-ईश्वरम्—परमेश्वर; सु-हृदम्—उपकारी; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों का; ज्ञात्वा—इस प्रकार जानकर; माम्—मुझ (कृष्ण) को; शान्तिम्—भौतिक यातना से मुक्ति; ऋच्छति—प्राप्त करता है।

मुझे समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं का परम भोक्ता, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर एवं समस्त जीवों का उपकारी एवं हितैषी जानकर मेरे भावनामृत से पूर्ण पुरुष भौतिक दुखों से शान्ति लाभ-करता है।

तात्पर्य

माया के वशीभूत सारे बद्धजीव इस संसार में शान्ति प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते हैं। किन्तु भगवद्गीता के इस अंश में वर्णित शान्ति के सूत्र को वे नहीं जानते। शान्ति का सबसे बड़ा सूत्र यही है कि भगवान् कृष्ण समस्त मानवीय कर्मों के भोक्ता हैं। मनुष्यों को चाहिए कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की दिव्यसेवा में अर्पित कर दें क्योंकि वे ही समस्त लोकों तथा उनमें रहने वाले देवताओं के स्वामी हैं। उनसे बड़ा कोई नहीं है। वे बड़े से बड़े देवता, शिव तथा ब्रह्मा से भी महान हैं। वेदों में (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.७) भगवान् को तमीश्वराणां परमं महेश्वरम् कहा गया है। माया के वशीभूत होकर सारे जीव सर्वत्र अपना प्रभुत्व जताना चाहते हैं, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि सर्वत्र भगवान् की माया का प्रभुत्व है। भगवान् प्रकृति (माया) के स्वामी हैं और बद्धजीव प्रकृति के कठोर अनुशासन के अन्तर्गत हैं। जब तक कोई इन तथ्यों को समझ नहीं लेता तब तक संसार में व्यष्टि या समष्टि रूप से शान्ति प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं है। कृष्णभावनामृत का यही अर्थ है। भगवान् कृष्ण परमेश्वर हैं तथा देवताओं

सहित सारे जीव उनके आश्रित हैं। पूर्ण कृष्णभावनामृत में रहकर ही पूर्ण शान्ति प्राप्त की जा सकती है।

यह पाँचवा अध्याय कृष्णभावनामृत की, जिसे सामान्यतया कर्मयोग कहते हैं, व्यावहारिक व्याख्या है। यहाँ पर इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि कर्मयोग से मुक्ति किस तरह प्राप्त होती है। कृष्णभावनामृत में कार्य करने का अर्थ है परमेश्वर के रूप में भगवान् के पूर्णज्ञान के साथ कर्म करना। ऐसा कर्म दिव्यज्ञान से भिन्न नहीं होता। प्रत्यक्ष कृष्णभावनामृत भक्तियोग है और ज्ञानयोग वह पथ है जिससे भक्तियोग प्राप्त किया जाता है। कृष्णभावनामृत का अर्थ है—परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का पूर्णज्ञान प्राप्त करके कर्म करना और इस चेतना की पूर्णता का अर्थ है—कृष्ण या श्रीभगवान् का पूर्णज्ञान। शुद्ध जीव भगवान् के अंश रूप में ईश्वर का शाश्वत दास है। वह माया पर प्रभुत्व जताने की इच्छा से ही माया के सम्पर्क में आता है और यही उसके कष्टों का मूल कारण है। जब तक वह पदार्थ के सम्पर्क में रहता है उसे भौतिक आवश्यकताओं के लिए कर्म करना पड़ता है। किन्तु कृष्णभावनामृत उसे पदार्थ की परिधि में स्थित होते हुए भी आध्यात्मिक जीवन में ले आता है क्योंकि भौतिक जगत् में भक्ति का अभ्यास करने पर जीव का दिव्य स्वरूप पुनः प्रकट होता है। जो मनुष्य जितना ही प्रगत है वह उतना ही पदार्थ के बन्धन से मुक्त रहता है। भगवान् किसी का पक्षपात नहीं करते। यह तो कृष्णभावनामृत के लिए व्यक्तिगत व्यावहारिक कर्तव्यपालन पर निर्भर करता है जिससे मनुष्य इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त करके इच्छा तथा क्रोध के प्रभाव को जीत लेता है। और जो कोई उपर्युक्त कामेच्छाओं को वश में करके कृष्णभावनामृत में दृढ रहता है वह ब्रह्मनिर्वाण या दिव्य अवस्था को प्राप्त होता है। कृष्णभावनामृत में अष्टांगयोग पद्धति का स्वयमेव अभ्यास होता है क्योंकि इससे अन्तिम लक्ष्य की पूर्ति होती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे प्रगति हो सकती है। किन्तु भक्तियोग में तो ये प्रस्तावना के स्वरूप हैं क्योंकि केवल इसी से मनुष्य को पूर्णशान्ति प्राप्त हो सकती है। यही जीवन की परम सिद्धि है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के पंचम अध्याय “कर्मयोग—
कृष्णभावनाभावित कर्म” का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।